

## आखिर शुचिता की चिन्ता स्त्री-केन्द्रित ही क्यों?

डॉ. हरीश अरोड़ा,

हिन्दी विभाग,

पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य),

(दिल्ली विश्वविद्यालय),

नेहरू नगर, नई दिल्ली-110 065

चित्रा मुद्गल ने आज से कुछ वर्ष पहले लिखा था कि – “रचनात्मक साहित्य किसी समस्या का तत्काल निदान नहीं। किंतु आमजन की मानसिकता बन गए दुर्गुणों की गहरी जड़ों में वह लगातार मठा उड़ेलकर-आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित ही नहीं करता, उन अदृश्य कारणों की पड़ताल के लिए भी बाध्य करता है जो उनकी चेतना से उनका संपर्क नहीं होने देते।”<sup>1</sup> शायद यही कारण है कि पिछले लगभग तीन-चार दशकों में हिन्दी के रचनात्मक साहित्य में अप्रत्याशित रूप से इतनी तेजी से परिवर्तन दिखाई देने लगा कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में नई विचारधाराओं और वादों की एक अलग दुनिया ही बस गयी। निश्चित रूप से हिन्दी साहित्य के इतिहास में इतनी सारी नई विचारधाराओं और विमर्शों की दुनिया इससे पहले कभी नहीं बसी, जितनी इन कुछेक वर्षों में।

यह मानव समाज की प्रवृत्ति है कि उसने अपने जीवन में सदैव एक-जैसा बने रहने की चेष्टा कभी नहीं की। वह समय के साथ-साथ अपनी जीवन-धारा को भी बदलने का इच्छुक रहा है। यह बदलाव उसकी सक्रिय सोच और गतिशील चेतना का परिचायक है और समाज अपने युग से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध रहने के कारण ही इस चेतना की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य को आधार बनाता है। उसकी इसी इच्छा ने ही उसे नए विमर्शों की नई दुनिया का निर्माता बना दिया है।

लगभग 20-30 वर्षों से वैश्वीकरण की नई विचारणा ने हिन्दी साहित्य और उसकी समस्त रचनाधर्मिता को ग्लोकल (ग्लोबल+लोकल) बना दिया। पश्चिम की अनेक नवीन अवधारणाओं को हिन्दी साहित्यकारों ने भारतीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया और ‘ग्लोबल’ और ‘लोकल’ की सम्मिश्रित आधारभूमि पर हिन्दी साहित्य ‘ग्लोकल’ बन गया। लेकिन बदलाव की इस जमीन पर साहित्य के चन्द तथाकथित बुज्जीवियों ने पश्चिम की पूंछ को पकड़कर अपने को महान साबित सिद्ध करने की होड़ में साहित्य को ग्लोबलीय अवधारणा के निकट रखने का प्रयास किया जिसके चलते वे भारतीय यथार्थ के मूल धरातल से कटते चले गए। दरअसल परिवेशगत यथार्थ के चिन्तन की प्रवृत्ति पर पश्चिमी अवधारणाओं के हावी होने के कारण इन साहित्यकारों और आलोचकों की रचनाधर्मिता से संवेदना और तरलता क्षीण होने लगे। लेकिन कहीं-न-कहीं पश्चिम के विचारकों की भूमि पर अनुवाद के बीज बोकर इन साहित्यकारों और आलोचकों ने हिन्दी साहित्य को अनेक नए विमर्शों की फसल उगाकर भी दी है। ये विमर्श हिन्दी साहित्य के लिए अवदान हैं। दलित विमर्श और स्त्री विमर्श जैसे नए वादों के कारण साहित्य के लेखकों और पाठकों को एक नई जमीन मिली। इन नए विमर्शों का आगमन साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण रहा। लेकिन अब तक हाशिए पर पड़े हुए वर्ग-विशेष ने अपने विमर्शों की नई दुनिया बनाने का जब निश्चय किया तो दूसरे वर्गों की अस्मिताएं इससे टकराने लगीं, ये नए

विमर्श उनकी सदियों से जमी हुई सत्ता के लिए चुनौती बनकर उभरे। साहित्य में मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद जैसे वर्षों से जमे हुए विचार-आन्दोलनों की जड़ें हिलने लगी। शोषित वर्ग के प्रति अपनी संवेदना को क्रांतिधर्मी चेतना के रूप में साहित्य में अभिव्यक्ति देने वाले मार्क्सवाद को अपनी जमीन खिसकती दिखाई देने लगी तो उसने इन नए विमर्शपरक आन्दोलनों पर गम्भीरता से विचार करना आरम्भ कर दिया।

लगभग 1990 के आस-पास नई सूचना प्रौद्योगिकी ने भारतीय समाज को संचार की नई तंत्र व्यवस्था के साथ सम्बद्ध कर दिया। नए-नए संचार माध्यमों के कारण विश्व को 'ग्लोबल विलेज' की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा। लेकिन वैश्वीकरण की इस आँधी ने ही एक नई साम्राज्यवादी व्यवस्था को समाज में जन्म दिया जिसे माध्यम साम्राज्यवाद कहा जाने लगा। यहाँ इस प्रसंग में आलोचक **डॉ. रोहिणी अग्रवाल** के इस विचार पर दृष्टि डालना जरूरी है कि – 'संवेदना और वैचारिकता यानी तरलता और तार्किकता जब घुल-मिल कर संश्लिष्ट हो जाते हैं और एक दूसरे की पूरकता और सह-अस्तित्व में अपने युग के सवालियों से टकराते हैं तो सृजन की भूमिका बनती है।'<sup>2</sup> लेकिन इस माध्यम साम्राज्यवाद के कारण समाज में उपजे बाजारवाद ने उत्तरआधुनिक विमर्शों के सामने ही चुनौती प्रस्तुत कर दी। अब साहित्य का सम्बन्ध संवेदना और विचार के धरातल पर एक-दूसरे का सहभागी बन समाज के सामने उठते प्रश्नों के हल ढूँढने का नहीं रहा। अब बाजार की प्रतिस्पर्धा में जहाँ साहित्य भी एक वस्तु के रूप में बिकने को तत्पर होने लगा वहीं साहित्यिक समाज में अपनी पहचान और स्वयं को दूसरे से बेहतर साहित्यकार सिद्ध करने की होड़ में नया लेखक भी नए विमर्शों के साथ खिलवाड़ करने लगा।

बदलते हुए भारतीय परिदृश्य में यथार्थवादी साहित्य को वादो-विवादों के संजाल-तंत्र में फँसाकर नया लेखक इन विमर्शों में नए प्रयोग करने का साहस करने लगा। प्रयोगधर्मिता तो साहित्य का गुण है ही इसलिए साहित्य में इन विमर्शों के नए प्रयोगों से भला किसे परेशानी है लेकिन परेशानी का कारण यह है कि इन विमर्शपरक लेखकों में या तो ऐसे लेखक हैं जिन्हें इन शब्दों के गहन अर्थ की जानकारी ही नहीं है या फिर ऐसे लेखक जो ये मानते हैं कि इन विमर्शों पर लेखन का अधिकार केवल उनका ही है। ऐसे लेखकों की रचनाएं रचनाधर्मिता से परे रचनाशीलता का आग्रह स्वीकार कर लिखी गई हैं। इसलिए ये quantity में तो बहुत हैं लेकिन quality के स्तर पर इनकी उपयोगिता संदिग्ध है। ऐसी परिस्थितियों में नए विमर्शों के कुछ साहित्यकारों ने कहीं-न-कहीं साहित्य को ही हॉलोकास्टिक बना दिया है। खास तौर पर स्त्री-विमर्श जैसे महत्वपूर्ण आन्दोलन की सैद्धान्तिकी को अपनी सोच से गढ़कर उन्होंने इस गम्भीर विषय के साथ जो खिलवाड़ किया वह उसकी भावात्मकता के साथ बलात्कार से कम नहीं।

यह सही है कि स्त्री का अपनी देह पर पूरा अधिकार है और उसकी देह ही उसकी अपनी पहचान है। उसकी देह कोई वस्तु नहीं जिस पर कोई अपना अधिकार जता सके। हमारे समाज में विवाह जैसी सामाजिक संस्था भी विवाह के उपरान्त स्त्री की देह के स्वामित्व को पति या किसी अन्य को अंतरित करने की छूट नहीं देती। लेकिन पश्चिम के फ़ैमिनिज़्म को अपनी आधारभूमि सुनिश्चित कर इस स्त्री-विमर्शपरक आन्दोलन को चलाने वाले तथाकथित बुद्धिजीवियों (जिनमें महिलायें भी शामिल हैं) ने स्त्री-विमर्श को देह-मुक्ति की अभिकल्पना से आबद्ध कर दिया। इस सम्बन्ध में चर्चित लेखिका **रमणिका गुप्ता** का मानना है कि – "शृंगार रस का ही साहित्य देखिए स्त्री देह

को केन्द्र में रखकर धोबिन-भंगिन से संभोग परमानंद के समान व्याख्यायित किया गया है। स्त्रियों ने तो हाल में लिखना शुरू किया। अब जब वे अपने ऊपर थोपी गई अश्लीलता का लिखती हैं या स्वतंत्र रूप से अपने प्रेम को, प्यार को या अपनी देह को केन्द्र में रखकर लिखती हैं तो उसे हम देहवादी विमर्श या व्यभिचार की छूट की संज्ञा देने लगते हैं। अश्लीलता या व्यभिचार यदि ग़लत होगा तो दोनों के लिए ग़लत होगा केवल स्त्री के लिए ही नहीं।<sup>3</sup>

आश्चर्य है कि जहाँ स्त्री-मुक्ति का यह आन्दोलन वास्तव में मानसिक मुक्ति से होना चाहिए था वहाँ यह देह-मुक्ति की अभिकल्पना पर आधारित हो गया। अब यौन सम्बन्धों की खुली किताब के लिए पोर्न-साहित्य(?) पढ़ने की आवश्यकता नहीं रही बल्कि देह मुक्ति की लालसा से भरे स्त्री-विमर्शपरक(?) साहित्य में यह दिखाई देने लगा। जहाँ स्त्री-विमर्श का मुख्य कार्य पितृसत्तात्मक व्यवस्था का पुनरीक्षण करते हुए सामाजिक जीवन-धारा से विमुख की गई स्त्री के सपनों को शब्द देने का होना चाहिए था वहीं यह स्त्री की देहयष्टि पर केन्द्रित होता चला गया। स्त्री की इस छवि को गढ़ने में पुरुष साहित्यकारों ने ही नहीं बल्कि स्त्री साहित्यकारों ने भी कम भूमिका नहीं निभाई। उसे भी साहित्यकारों की भीड़ में अपने लिए स्पेस तलाशने के लिए स्त्री की छवि को बोल्ड (देहयष्टि के रूप में) बनाने से परहेज नहीं। **डॉ. नमिता सिंह** ने इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा भी है कि – “समकालीन महिला लेखन उसी भटके हुए स्त्री विमर्श की अवधारणा का शिकार है जो आज के प्रचलित ‘देहमुक्ति’ अभियान को ही ‘नारी मुक्ति’ का पर्याय समझ बैठा है और स्त्री बनाम पुरुष का लेखन कर रहा है।”<sup>4</sup>

प्रश्न यह नहीं है कि पहले के साहित्य में पुरुष साहित्यकारों द्वारा अपने सुख या सौन्दर्य

की अभिव्यक्ति के नाम पर लिखी गई कथाओं को अश्लील कहा जाए या नहीं, प्रश्न यह भी नहीं है कि इसी दृष्टिकोण में इस विमर्शपरक आन्दोलन में स्त्री-देह की मुक्ति को व्यभिचार की संज्ञा से मुक्त किया जाए या नहीं, प्रश्न यह है कि इस तरह के साहित्य की प्रतिस्पर्धा में ऐसा ही साहित्य लिख दिए जाने से क्या स्त्री-अस्मिता या स्त्री-अधिकार की अभिकल्पना को साकार किया जा सकता है? क्या इस तरह के साहित्यिक व्यभिचार (?) की खुली छूट को ही स्त्री-स्वतंत्रता का पर्याय मान लेना उचित होगा? सच यह है कि अन्याय का विरोध अन्याय से नहीं हो सकता, सत्ता का विरोध भी सत्ता से नहीं हो सकता इसी तरह अश्लीलता का विरोध अश्लीलता से करने से स्त्री-मुक्ति के वास्तविक आन्दोलन को अपनी परिणति तक ले जाना सम्भव ही नहीं होगा।

दरअसल स्त्री-विमर्श के आन्दोलन के पुरोधाओं सीमोन द बोउवार, केट लिट, बैटी फरीडन, इरीगैरो, जॉन स्टुअर्ट मिल आदि ने इस सम्बन्ध में अपने विचारों के माध्यम से इस विश्व में जिस बहस को जन्म दिया उसने पितृसत्तात्मक समाज में पितृक मूल्यों और स्त्री-अधिकारों के नाम पर सामाजिक अंतर्विरोधों के वास्तविक चेहरे को सामने ला दिया। समाज में आधिकारिता के द्वंद्व में लैंगिक भेद के यथार्थ की अभिव्यक्ति के बीच से ही स्त्री-विमर्श जैसा विमर्श उपज कर आया। दरअसल इस विमर्श ने जहाँ स्त्री समाज की पितृसत्तात्मक समाज में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक वर्जनाओं को तोड़ने का काम करना था वहाँ इसके पुरोधाओं ने पितृसत्तात्मक समाज की सत्ता के विरोध में अपना संघर्ष आरम्भ कर दिया। ऐसा नहीं कि इस पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री के समानता के अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं होना चाहिए या स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की वर्तमान यथास्थिति को तोड़ने से स्त्री के चरित्र को ग़लत दृष्टिकोण से देखना चाहिए लेकिन ‘एक अन्त का विकल्प दूसरे छोर का अन्त नहीं हो सकता – उसका समाधान तो कहीं मध्य

में आकर ही करना पड़ता है।' इसलिए पितृसत्ता का विकल्प मातृसत्ता नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष की समानता है।

वैसे भी जहाँ सत्ता का संघर्ष होगा वहाँ समरसता तो आ ही नहीं सकती। संघर्ष किसी-न-किसी एक पक्ष को अधिक शक्तिशाली बनाता है उसे अधिकार देता है। भले ही पराजय किसी भी पक्ष की न हो लेकिन शक्ति का केन्द्र किसी एक के ही हाथ आ जाता है इससे दूसरे पक्ष के मन में पहले के प्रति प्रतिरोध की भावना स्वाभाविक रूप से जागृत होती है। यही संघर्ष सामाजिक जीवन-धारा के मूल में भी है। सदियों से चले आ रहे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को अपनी अस्मिता के लिए बार-बार संघर्ष करना ही पड़ा। समाज की व्यवस्था में पितृसत्तात्मकता के कारण हर बार जवाबदेही के केन्द्र में स्त्री ही रही, फरुष किसी भी कार्य के प्रति जवाबदेही की स्थिति में कभी नहीं रहा। ऐसे में उस सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध स्त्री का उठ खड़ा होना कोई अप्रत्याशित नहीं था। सदियों से ही वह अपने भीतर इस आग को कभी परम्परा और कभी परिवार के सम्मान के नाम पर दबाती चली आई लेकिन भीतर-ही-भीतर सुलगती चिंगारी बीच-बीच में जब दबावों को सह नहीं पाती तो प्रचण्डाग्नि बनकर धधक उठती थी। अवसर मिलने पर उसने बार-बार सामाजिक अंधपरम्पराओं और रूढ़ियों के प्रतिरोध में अपनी आवाज़ को बुलन्द किया। लेकिन इस बात को भी नहीं नकारा जा सकता कि इस आवाज़ को बुलन्दी तक ले जाने में कहीं-न-कहीं उसे पुरुष समाज को भी सहयोग मिलता रहा है। भले ही इतिहास और पुराण में सैंकड़ों गाथाओं में स्त्री के सौन्दर्य को देहयष्टि तक सीमित करने का प्रयास किया गया हो लेकिन यह भी सच है कि हज़ारों वर्ष पहले मनु ने भी 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' जैसी उक्ति कही और हज़ारों वर्षों के बाद इसी अवधारणा को जयशंकर प्रसाद ने 'कामयानी' में 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास

रजत नभ पग तल में, पीयूष स्रोत सी बहा कहो जीवन के सुन्दर समतल में' कहकर उसके चरित्र को प्रतिष्ठित किया। राजाराममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी जैसे लोग भी इसी समाज का हिस्सा रहे हैं जिन्होंने नारी के जीवन को समाज की वर्जनाओं से मुक्त करने के लिए अनेक प्रयास किए। इन लोगों के प्रयास से ही स्त्री को सामाजिक अव्यवस्थाओं से लड़कर अपने अधिकार प्राप्त करने में सहज सफलता मिली।

मुक्तिबोध ने भी कहा है कि 'मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते'। यह सोचना कि क्योंकि यह विचार किसी एक पुरुष लेखक/आलोचक का है निश्चित रूप से स्त्री की दृष्टि में पुरुषवादी हो सकता है लेकिन सच यह है कि सत्ता के बदलने से समाज नहीं बदलता बल्कि व्यवस्थाओं के बदलने से समाज में परिवर्तन आता है। इसलिए स्त्री-विमर्श की अवधारणात्मक दृष्टि एक ऐसे समाज की ओर केन्द्रित होनी चाहिए जहाँ स्त्री और पुरुष के बीच अधिकारों का अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्विरोध न हो, जहाँ स्त्री स्त्री होने के कारण पुरुष द्वारा प्रताड़ित या शोषित न हो, जहाँ समाज के मूल्य पैतृक न होकर माता-पिता की संयुक्त इकाई द्वारा आदर्श के रूप में निर्धारित हों। इसलिए संघर्ष पितृसत्तात्मकता या मातृसत्तात्मकता का नहीं वरन् स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों की आधारशिला को मजबूत करने के लिए सामाजिक अंधपरम्पराओं और रूढ़ वर्जनाओं को तोड़ने का है। संघर्ष अधिकारों के विभाजन का नहीं – अधिकारों की समानता और सम्मान का है इसमें सम्मान की अधिकारी स्त्री ही नहीं पुरुष भी हो। ऐसा भी देखने में आया है कि महिलाओं के अधिकारों के लिए बने कानून की आड़ में कई स्त्रियों ने अपने पतियों और उनके परिजनों के विरुद्ध उनका जो दुरुपयोग किया है वह उस कानून के द्वारा उन्हें प्रदत्त एक तरह की सत्ता का ही दुरुपयोग है। इसलिए यह जरूरी है कि सत्ता के अधिकारी भले

ही कोई भी रहे लेकिन व्यवस्था समान अधिकारों के लिए कार्य करे। इसके लिए विशेष जरूरत यह है कि पितृसत्ता के केन्द्र में रहे पुरुष समाज को स्त्री की स्वतंत्रता को न सिर्फ स्वीकारना होगा बल्कि सत्ता के द्वंद्व के स्थान पर उसकी भागीदारी को भी स्वयं सुनिश्चित करना होगा तभी स्त्री-विमर्श या स्त्री-अस्मिता का आन्दोलन सही मायने में सफल हो पाएगा।

वास्तविकता यह है कि व्यक्तिवादी और भौतिकतावादी विचारधाराओं तथा भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण जैसे नए अवधारणामूलक शब्दों के साथ-साथ उत्तरआधुनिक विमर्श की इस नई दुनिया में 'साहित्य का समाजशास्त्र' अब 'बाज़ार का समाजशास्त्र' बन गया है। अब साहित्य सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं के कारण उपजी जटिलताओं से नहीं बल्कि पूँजीवादी सत्ता से शक्ति पाता है। साहित्य के सामने यह संकट केवल बाज़ार या पूँजीवादी-साम्राज्यवाद से नहीं है बल्कि इसे यह संकट उसके उन लेखकों और बुद्धिजीवियों से भी है जिनकी दृष्टि में ये नए वाद अन्य वादों से कहीं प्रभावशाली होने के कारण उन्हें साहित्य में अलगाते हैं। उन बुद्धिजीवियों का यह अलगाव-बोध सीमित दृष्टि का परिचायक है।

दरअसल सच यह है कि इन नए विमर्शों का पुराने से अलगाव नहीं है बल्कि साहित्य की पूर्ववर्ती विचारणाओं के विकास की प्रक्रिया में विद्यमान कुछ-एक सूत्रों को पश्चिमी अवधारणाओं के आलोक में देखकर इसे नए नामों से सम्बोधित करने का भ्रम है। जैसे कुछ आलोचकों को आज भी कबीर के काव्य में जनवाद या मार्क्सवाद के विचार दिखाई पड़ते हैं। वास्तविकता यह है कि बाज़ार के कारण साहित्य की कुछ विधाओं ने अर्थजगत में अपनी पहचान जरूर बना ली है लेकिन ये उन विधाओं के लिए ओर भी अधिक खतरे का संकेत है। श्रीमती **अर्चना वर्मा** ने साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित 'क्या कविता

खतरे में है?' विषय पर आयोजित एक परिसंवाद में कहा कि 'कहानी बिकाऊ है इसलिए वो खतरे से बाहर लगती है, लेकिन इसी कारण वह मुझे खतरे में नज़र आती है।' यही कारण है कि अब साहित्य में घनत्व की सघनता दिखाई नहीं देती।

सच है कि बदलाव से किसी को परहेज़ नहीं है लेकिन बदलाव के पीछे की वास्तविकता और बदलाव की विध्वंसकारी परिणति को दृष्टिगत रखे बिना इसे स्वीकार कर लेना समाज और साहित्य दोनों के लिए ही घातक होगा। भारत के तेज़ी से बदलते परिदृश्य के कारण हिन्दी साहित्य में उत्तर-आधुनिकोत्तर विमर्शों की छाया मंडरा रही है। बाज़ारवाद अब समाज और साहित्य का ही नहीं बल्कि संसार का यथार्थ बन गया है। इस नए भूमण्डलीय यथार्थ के कारण हिन्दी साहित्य के सामने उठते नए प्रश्नों के उत्तर तलाशने के लिए जरूरत है कि विचारधाराओं और वादों के जंगल में नए विमर्शों के आलोक में समाज को पहचानें और साहित्य की रचनाधर्मिता को गरियाने वाले बाज़ार में संवेदना के लिए भी स्पेस बनाकर चलें। जरूरत है सघनता और तरलता को साहित्य में बचाए रखने की, तमाम पूर्वाग्रहों की छाया से साहित्य को मुक्त रखते हुए उसमें संवेदना और वैचारिकता की संश्लिष्टता की और विचारधाराओं और वादों के द्वंद्व से साहित्य को विकसित करने की।

## संदर्भ

1. आजकल, मई 2001, पृष्ठ 8
2. हरिगंधा, अक्टूबर, 2008, पृष्ठ 60
3. सम्बोधन – स्त्री विमर्श अंक, अक्टूबर 2005–जनवरी 2006, पृष्ठ 171
4. सम्बोधन – स्त्री विमर्श अंक, अक्टूबर 2005–जनवरी 2006, पृष्ठ 159